भगवान् महावीर की नीति

☐ उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म.

जिस प्रकार धार्मिक जीवन का आधार आचार है, उसी प्रकार व्यावहारिक जीवन की रीढ़ नीति है और यह भी तथ्य है कि बिना नैतिक जीवन के धार्मिक जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से नीति, धर्म का आधार है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्मप्रवर्त्तक, धर्मोपदेशक और धर्मसुधारक ने धर्म के साथ नीति का भी उपदेश दिया, जन साधारण को नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा दी।

हाँ, यह अवश्य है कि धर्म, धर्म के मूल्य, धर्म के सिद्धान्त स्थायी हैं, सदा समान रहते हैं। उनमें देश-काल की परिस्थितियों के कारण परिवर्तन नहीं होता; जैसे अहिंसा धर्म है, यह संसार में सर्वत्र और सभी कालों में धर्म ही रहेगा। किन्तु नीति, समय और परिस्थिति सापेक्ष है, इसमें परिवर्तन आ सकता है। जो नीतिसिद्धान्त भारतीय परिस्थितियों के लिए उचित हैं, आवश्यक नहीं कि वे पश्चिमी जगत् में भी मान्य किये जाएँ, वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार नैतिक सिद्धान्त भिन्न प्रकार के भी हो सकते हैं।

व्यावहारिक जीवन से प्रमुखतया सम्बन्धित होने के कारण नीतिसिद्धान्तों में परिवर्तन आ जाता है।

जैन नीति के सिद्धान्त यद्यपि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा निश्चित कर दिये गये थे और वे दीर्घकाल तक चलते भी रहे थे; किन्तु उन सिद्धान्तों को युगानुकूल रूप प्रदान करके भगवान् महावीर ने निश्चित किया और यही सिद्धान्त अब तक प्रचलित हैं। इसी अपेक्षा से इन्हें 'भगवान् महावीर की नीति' नाम से अभिहित करना समीचीन होगा।

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन क्षत्रियकुण्ड ग्राम में राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशलादेवी की कुक्षि से ईसा पूर्व ५९९ में हुआ था। आपने ३० वर्ष गृहवास में बिताये, तदुपरान्त श्रमण बने। १२½ वर्ष तक कठोर तपस्या की, केवलज्ञान का उपार्जन किया और फिर धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन किया। ३० वर्ष तक अपने वचनामृत से भव्य जीवों के लिए कल्याण मार्ग बताया और आयुसमाप्ति पर ७२ वर्ष की अवस्था में कार्तिकी अमावस्या के दिन निर्वाण प्राप्त किया।

वे जैन परम्परा के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर हैं। वर्त्तमान समय में उन्हीं का शासन चल रहा है।

भारतीय और भारतीयेतर सभी धर्मप्रवर्त्तकों, उपदेशकों से भगवान् महावीर का उपदेश विशिष्ट रहा। उपदेश की विशिष्टता के कारण ही उनके द्वारा निर्धारित नीति में भी ऐसी

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

विशेषताओं का समावेश हो गया जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकतीं। इस अपेक्षा से भगवान् महावीर की नीति को दो शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—

१—भगवान् महावीर की विशिष्ट नीति।
२—भगवान् महावीर की सामान्य नीति।

सामान्य नीति से अभिप्राय नीति के उन सिद्धान्तों से है, जिनके ऊपर अन्य दार्शनिकों, मनीषियों और धर्म-सम्प्रदाय के उपदेष्टाओं ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं। ऐसे नीति-सिद्धान्त सत्य, अहिंसा आदि हैं। किन्तु इन सिद्धान्तों का युक्तियुक्त तर्कसंगत विवेचन जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। भगवान् महावीर और उनके अनुयायियों ने इन पर गम्भीर चिन्तन किया है।

विशिष्ट नीति से अभिप्राय उन नीति-सिद्धान्तों से है, जिन तक अन्य मनीषियों की दृष्टि नहीं पहुँची है। ऐसे नीति-सिद्धान्त अनाग्रह, अनेकान्त, यतना, समता अप्रमाद आदि हैं। यद्यपि यह सभी नीति-सिद्धान्त सामाजिक सुव्यवस्था तथा व्यक्तिगत व्यावहारिक सुखी जीवन के लिए थे फिर भी अन्य धर्म प्रवर्तकों के चिन्तन से यह अछूते रह गये। भगवान् महावीर और उनके आज्ञानुयायी श्रमणों, मनीषियों ने नीति के इन प्रत्ययों पर गम्भीर विचार किया है और सुखी जीवन के लिए इनकी उपयोगिता प्रतिपादित की है।

जैन नीति के मूल तत्त्व

उपर्युक्त सामान्य और विशिष्ट नीति के सिद्धान्तों को भली भाँति हृदयंगम करने के लिए यह अधिक उपयोगी होगा कि जैन नीति अथवा भगवान् महावीर की नीति के मूल आधारभूत तत्त्वों को और उनके हार्द को समझ लिया जाय।

जैन नीति के मूल तत्त्व हैं, पुण्य, संवर और निर्जरा। ध्येय है—मोक्ष। आस्रव, बंध तथा पाप अनैतिक तत्त्व हैं। जैन नीति का सम्पूर्ण भाग इन्हीं पर टिका हुआ है।

पाप अनैतिक है, पुण्य नैतिक, आस्रव अनैतिक है, संवर नैतिक, बंध अनैतिक है, निर्जरा नैतिक। इस सूत्र के आधार पर ही सम्पूर्ण जैन-नीति को समझा जा सकता है।

पाप और पुण्य शब्दों का प्रयोग तो संसार की सभी नीति और धर्म-परम्पराओं में हुआ है, सभी ने पाप को अनैतिक बताया और पुण्य की गणना नीति में की है। यह बात अलग है कि उनकी पाप एवं पुण्य की परिभाषाओं में अन्तर है, इनकी परिभाषायें उन्होंने अपनी-अपनी कल्पनाओं में बाँधकर की है।

किन्तु आस्रव, संवर बंध और निर्जरा शब्द जैन नीति के विशेष शब्द हैं। इनका अर्थ समझ लेना अभीष्ट है।

आस्रव का नीतिपरक अभिप्राय है—वे सभी क्रियाएँ जिनको करने से व्यक्ति का स्वयं का जीवन दुःखी हो, जिनसे समाज में अव्यवस्था फैले, आतंक बढ़े, विषमता पनपे, समाज के, देश के, राष्ट्र, राज्य और संसार के अन्य प्राणियों का जीवन अशान्त हो जाय, वे कष्ट में पड़ जायँ।

जैन-नीति ने आस्रवों के प्रमुख पाँच भेद माने हैं—१. मिथ्यात्त्व (गलत धारणा), २. अविरति (आत्मानुशासन का अभाव), ३. प्रमाद (जागरूकता का अभाव—असावधानी),

४. कषाय (क्रोध, मान, कपट, लोभ) और ५. अशुभ योग (मन, वचन काय की निंद्य एवं कुत्सित वृत्तियां)। एक अन्य अपेक्षा से भी पाँच प्रमुख आस्रव हैं— १. हिंसा, २. मृषावाद—असत्य भाषण, ३. चौर्य, ४. अब्रह्म सेवन और ५. परिग्रह।

स्पष्ट है कि ये सभी आस्रव अनैतिक हैं, समाज एवं व्यक्ति के लिए दुःखदायी हैं, अशान्ति, विग्रह और उत्पीड़न करने वाले हैं।

इन आस्रवों को—अनैतिकताओं को—अनैतिक प्रवृत्तियों को रोकना, इनका आचरण न करना, संवर है—नीति है, सुनीति है।

हिंसा आदि पांचों आस्रवों को पाप भी कहा जाता है, इसीलिए पाप अनैतिक है। किसी का दिल दुखाना, शारीरिक मानसिक चोट पहुँचाना, झूठ बोलना, चोरी करना, धन अथवा वस्तुओं का अधिक संग्रह करना आदि असामाजिकता है, अनैतिकता है।

आज समाज में जो विग्रह, वर्गसंघर्ष, अराजकता आदि बुराइयाँ तीव्रता के साथ बढ़ रही हैं इनका मूल कारण उपर्युक्त अनैतिक आचरण और व्यवहार ही है। एक ओर धन के ऊँचे पर्वत और दूसरी ओर निर्धनता एवं अभाव की गहरी खाई ने ही वर्गसंघर्ष और असंतोष को जन्म दिया है, जिसके कारण मानव-मन में विप्लव उठ खड़ा हुआ है।

इस पाप रूप अनैतिकता के विपरीत अन्य व्यक्तियों को सुख पहुँचाना, अभावग्रस्तों का अभाव मिटाना, रोगी आदि की सेवा करना, समाज में शान्ति स्थापना के कार्य करना, धन का अधिक संग्रह न करना, कटु शब्द न बोलना, मिथ्या भावण न करना, चोरी, हेरा-फेरी आदि न करना नैतिकता है, नीतिपूर्ण आचरण है।

धर्मशास्त्रों के अनुसार बन्ध का अभिप्राय है—अपने ही किये कर्मों से स्वयं ही बँध जाना, किन्तु नीति के सन्दर्भ में इसका अर्थ विस्तृत है। व्यक्ति अपने कार्यों के जाल में स्वयं तो फंसता ही है, दूसरों को भी फंसाता है। जैसे मकड़ी जाला बुनकर स्वयं तो उसमें फंसती ही है, किन्तु उसकी नीयत मच्छरों आदि अपने शिकार को भी उस जाल में फंसाने की होती है और फँसा भी लेती है।

इसी तरह कोई व्यक्ति झूठ-कपट का जाल बिछाकर लच्छेदार और खुशामद भरी मीठी-मीठी बातें बनाकर अन्य लोगों को अपनी बातों में बहलाता है, भुलावा देकर उन्हें वाग्जाल में फँसाता है, उन्हें वचन की डोरी से बांधता है, अकड़ता है तो उसके ये सभी क्रिया-कलाप—वाग्जाल बन्धन रूप होने से अनैतिक हैं।

और नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से निर्जरा है, ऐसे वाग्जालों में किसी को न फँसाना, झूठ-कपट और लच्छेदार शब्दों में किसी को न बांधना। यदि पहले कषाय आदि के आवेग में किसी को इस प्रकार बन्धन में ले लिया हो तो उसे वचनमुक्त कर देना, साथ ही स्वयं उस बन्धन से मुक्त हो जाना।

इसी बात को हेमचन्द्राचार्य ने इन शब्दों में कहा है—

आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपंचनम्॥ —वीतराग स्तोत्र

—आस्रव भव का हेतु है और संवर मोक्ष का कारण है। दूसरे शब्दों में आस्रव

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

अनैतिक है तथा संवर नैतिक है। यह आर्हत (अरिहन्त भगवान् तथा उनके अनुयायियों की) दृष्टि है। अन्य सब इसी का विस्तार है।

जैन दृष्टि के इन मूल आधारभूत तत्त्वों के प्रकाश में अब हम भगवान् महावीर की नीति को समझने का प्रयास करेंगे।

भगवान् महावीर के अनुयायियों का वर्गीकरण श्रमण और श्रावक इन दो प्रमुख वर्गों में किया जा सकता है। इन दोनों ही वर्गों के लिए भगवान् ने आचरण के स्पष्ट नियम निर्धारित कर दिये हैं। पहले हम श्रमणों को ही लें।

श्रमणाचार में नीति

श्रमण के लिए स्पष्ट नियम है कि वह अपना पूर्व परिचय—गृहस्थ जोवन का परिचय श्रावक को न दे। सामान्यतया श्रमण अपने पूर्व जीवन का परिचय श्रावकों को देते भी नहीं, किन्तु कभी-कभी परिस्थिति ऐसी उत्पन्न हो जाती है कि परिचय देना अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा श्रमणों के प्रति आशंका हो सकती है। इसे एक दृष्टान्त से समझिये—

भगवान् नेमिनाथ के शिष्य छह मुनि थे—अनीकसेन आदि। ये छहों सहोदर भ्राता थे, रूप रंग आदि में इतनी समानता थी कि इनमें भेद करना बड़ा कठिन था। दो-दो के समूह में वह छहों अनगार देवकी के महल में भिक्षा के लिए पहुँचे। देवकी के हृदय में यह शंका उत्पन्न हो गई कि ये दो ही साधु मेरे घर भिक्षा के लिए तीन बार आये हैं, जबकि श्रमण नियम से एक ही दिन में एक घर में दो बार भिक्षा के लिए नहीं जाता।

देवकी की इस शंका को मिटाने के लिए साधुओं ने अपना पूर्व परिचय दिया,[1] जो कि उस परिस्थिति में अनिवार्य था।

इसलिए भगवान् ने साधु के लिए उत्सर्ग और अपवाद—दो मार्ग बताये हैं। उत्सर्ग-मार्ग में तो पूर्व परिचय साधक देता नहीं, लेकिन अपवाद-मार्ग में, यदि विशिष्ट परिस्थिति उत्पन्न हो जाय तो दे सकता है।

यह अपवाद-मार्ग जैन साध्वाचार में नीति का द्योतक है।

इसी प्रकार केशी श्रमण ने जब गौतम गणधर से भ. पार्श्वनाथ की सचेलक और भ. महावीर की अचेलक धर्मनीति के भेद के विषय में प्रश्न किया तो गणधर गौतम का उत्तर नीति का परिचायक है।[2] उन्होंने बताया कि सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र तप की साधना ही मोक्ष मार्ग है। वेष तो लोक-प्रतीति के लिए होता है।

इसी प्रकार के अन्य दृष्टान्त श्रमणाचार सम्बन्धी दिये जा सकते हैं, जो सीधे व्यावहारिक नीति अथवा लोकनीति से सम्बन्धित हैं।

अब हम भगवान् महावीर की नीति का—विशिष्ट नीति का वर्णन करेंगे, जिस पर अन्य विचारकों ने बिल्कुल भी विचार नहीं किया है, और यदि किया भी है तो बहुत कम किया है।

---

[1] अन्तगड सूत्र

[2] उत्तराध्ययन सूत्र १३/२९-३२

भगवान् महावीर की विशिष्ट नीति

भगवान् महावीर की विशिष्ट नीति के मूलभूत प्रत्यय हैं—अनाग्रह, यतना, अप्रमाद, उपशम आदि ।

समाज देश अथवा राष्ट्र का एक वर्ग अपने ही दृष्टिकोण से सोचता है उसी को उचित मानता है तथा अन्यों के दृष्टिकोण को अनुचित । वह उनके दृष्टिकोण का आदर नहीं करता, इसी कारण पारस्परिक संघर्ष होता है ।

आर्य स्कन्दक[3] ने भगवान् महावीर से पूछा—लोक शाश्वत है या अशाश्वत, अन्त सहित है या अन्त रहित ?

इसी प्रकार के और भी प्रश्न किये । भगवान् ने उसके सभी प्रश्नों का अनेकांत नीति से उत्तर दिया, कहा—

लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी । यह सदा काल से रहा है, अब भी है और भविष्य में रहेगा, कभी इसका नाश नहीं होगा । इस अपेक्षा से यह शाश्वत है । साथ ही इसमें जो द्रव्य-काल-भाव की अपेक्षा परिवर्तन होता है, उस अपेक्षा से अशाश्वत भी है ।

इसी प्रकार भगवान् ने स्कन्दक के सभी प्रश्नों के उत्तर दिये । इस अनेकांतनीति से प्राप्त हुए उत्तरों से स्कन्दक संतुष्ट हुआ । यदि भगवान् अनेकांत नीति से उत्तर न देते तो स्कन्दक भी संतुष्ट न होता और सत्य का भी अपलाप होता । सत्य यह है कि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है । वस्तु स्थिर भी रहती है, और उसी क्षण उसमें काल आदि की अपेक्षा परिवर्तन भी होते रहते हैं ।

आज का विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार कर चुका है, तभी आईन्टीन आदि वैज्ञानिकों ने अनेकांत नीति की सराहना की है, इसे भगवान् महावीर की अनुपम देन माना है, और शांतिपूर्ण सह अस्तित्व के लिए इसे बहुत उपयोगी स्वीकार किया है । आइन्स्टीन का Theory of relativity तो स्पष्ट सापेक्षवाद अथवा अनेकांत ही है ।

यतना-नीति

यतना का अभिप्राय है—सावधानी । नीति के संदर्भ में सावधानी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक है । भगवान् ने बताया है कि सोते, जागते, चलते, उठते, बैठते, बोलते—प्रत्येक क्रिया को यतनापूर्वक[4] करना चाहिए ।

सावधानी पूर्ण व्यवहार से विग्रह की स्थिति नहीं आती, परस्पर मन-मुटाव नहीं होता, किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता । आत्मा की सुरक्षा भी होती है ।

समता-नीति

समता भाव अथवा साम्यभाव भगवान् महावीर या जैन धर्म की विशिष्ट नीति है । आचार और विचार में यह अहिंसा की पराकाष्ठा है । भगवान् महावीर ने आचार-व्यवहार की नीति बताते हुए कहा—

---

३. भगवती २, ९

४. दशवैकालिक ४

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

अप्पसमे मन्निज्ज छप्पि काए[५]

छह काय के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझो। छह काय से यहाँ अभिप्राय मनुष्य, पशु, पक्षी, देव छोटे से छोटे कृमि और यहां तक कि जल, बनस्पति, पेड़ पौधे आदि प्राणिमात्र से है।

जैन धर्म इन सभी में आत्मा मानता है और इसीलिए इनको दुःख देना, अनीति में परिगणित किया गया है, तथा इन सबके प्रति समत्वभाव रखना जैन नीति की विशेषता है।

क्रूर, कुमार्गगामी, अपकारी व्यक्तियों के प्रति भी समता का भाव रखना चाहिये, यह जैन रीति है। भगवान् पार्श्वनाथ पर उनके साधनाकाल में कमठ ने उपसर्ग किया और धरणेन्द्र ने इस उपसर्ग को दूर किया, किन्तु प्रभु पार्श्वनाथ ने दोनों पर ही सम भाव रखा।

मनोविज्ञान और प्रकृति का नियम है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और फिर प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया। इस प्रकार यह क्रिया-प्रतिक्रिया का एक चक्र ही चलने लगता है। इसको तोड़ने का एक ही उपाय है—क्रिया की प्रतिक्रिया होने ही न दी जाय।

किसी एक व्यक्ति ने दूसरे को गाली दी, सताया, उसका अपकार किया या उसके प्रति दुष्टतापूर्ण व्यवहार किया। उसकी इस क्रिया की प्रतिक्रिया स्वरूप वह दूसरा व्यक्ति भी गाली दे अथवा दुष्टतापूर्ण व्यवहार करे तो संघर्ष की, कलह की स्थिति बन जाये और यदि वह समता का भाव रखे, समता नीति का पालन करे तो संघर्ष शान्ति में बदल जायेगा।

समाजव्यवहार, तथा लोक में शान्ति हेतु समता की नीति की उपयोगिता सभी के जीवन में प्रत्यक्ष है, अनुभवगम्य है।

समतानीति का हार्द है—सभी प्राणियों का सुख-दुःख अपने ही सुख-दुःख के समान समझना। सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता। इसका आशय यह है कि ऐसा कोई भी काम न करना जिससे किसी का दिल दुखे। और यह समतानीति द्वारा ही हो सकता है।

अनुशासन एवं विनयनीति

विनय एवं अनुशासन संसार की ज्वलंत समस्यायें हैं। अनुशासन समाज में सुव्यवस्था का मूल कारण है और विनय जीवन में सुख-शान्ति प्रदान करता है।

यद्यपि विनय तथा अनुशासन को सभी ने महत्त्व दिया है, किन्तु भगवान् महावीर ने इसे जीवन का आवश्यक अंग बताया है। उन्होंने तो विनय को धर्म का मूल—'विणयमूलो धम्मो' कहा है।

विनय का लोकव्यवहार में अत्यधिक महत्त्व है। एक भी अविनयपूर्ण वचन कलह और क्लेश का वातावरण उत्पन्न कर देता है, जबकि विनय-नीति के पालन से संघर्ष की अग्नि शांत हो जाती है, वैर का दावानल सौहार्द में परिणत हो जाता है।

विनय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता की कुंजी है। लेकिन विनयनीति का पालन

---

[५] उत्तराध्ययनसूत्र

वही कर पाता है, जो अनुशासित हो, अनुशासन पाकर कुपित न हो । इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—

अणुसासिओ न कुपिज्जा ।[६]
और
विणए ठविज्ज अप्पाणं ।[७]

विनय में स्थित रहे, विनय नीति का पालन करे । गुरुजनों, माता-पिता आदि का विनय परिवार में सुख-शांति का वातावरण निर्मित करता है तथा मित्रों, सम्बन्धियों, समाज के सभी व्यक्तियों के प्रति विनययुक्त व्यवहार यश-कीर्ति तथा प्रेम एवं उन्नति की स्थिति के निर्माण में सहायक होता है ।

मित्रता (Friendship) को संसार के सभी विचारक श्रेष्ठ नीति स्वीकार करते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि सिर्फ अपनी ही जाति तक सीमित रह गई, कुछ थोड़े आगे बढ़े तो उन्होंने सम्पूर्ण मानव जाति के साथ मित्रता नीति के पालन की बात कही । किन्तु भगवान् महावीर की मैत्री-नीति का दायरा बहुत विस्तृत है, वे प्राणीमात्र के साथ मित्रता की नीति का पालन करने की बात कहते हैं—

मित्ति भूएसु कप्पए ।[८]

प्राणी मात्र के साथ मैत्री का—मित्रता की नीति का संकल्प करे । भगवान् की इसी आज्ञा को हृदयंगम करके प्रत्येक जैन यह भावना करता है—

प्राणीमात्र के साथ मेरी मैत्री (मित्रता) है, किसी के साथ वैरभाव नहीं है ।

मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई ।[९]

मित्रता की यह नीति स्वयं को और अपने साथ अन्य सभी प्राणियों को आश्वस्त करने की नीति है ।

सामूहिकता की नीति

सामूहिकता अथवा एकता सदा से ही संसार की प्रमुख आवश्यकता रही है । बिखराव अलगाव की प्रवृत्ति अनैतिक है और परस्पर सद्भाव—सौदार्द—मेल-मिलाप नैतिक है ।

भगवान् महावीर ने सामूहिकता तथा संघ-ऐक्य का महत्त्व साधुओं को बताया । उनके संकेत का अनुगमन करते हुए साधु भोजन करने से पहले अन्य साधुओं को निमन्त्रित करता और कहता है कि यदि मेरे लाये भोजन में से कुछ ग्रहण करें तो मैं संसार-सागर से तिर जाऊँ ।

साहू हुज्जामि तारिओ ।[१०]

---

[६] उत्तराध्ययनसूत्र १।९
[७] उत्तराध्ययनसूत्र १।८
[८] उत्तराध्ययनसूत्र ६।२
[९] आवश्यकसूत्र
[१०] दशवैकालिकसूत्र ५।१२५

धम्मो दीव
संसार समुद्र
धर्म ही दीप

दशवैकालिकसूत्र के इन शब्दों से यही नीति परिलक्षित होती है । वैदिक परम्परा में भी सामूहिकता अथवा संगठन की महत्ता स्वीकृत की गई है । 'संघे शक्तिः कलौ युगे—कलियुग में संगठन में ही शक्ति है । इन शब्दों में सामूहिकता की ही नीति मुखर हो रही है ।

आधुनिक युग में प्रचलित शासनप्रणाली—प्रजातन्त्र का आधार तो सामूहिकता है ही । प्रजातन्त्र का प्रमुख नारा है—

United we stand divided we fall.

—सामूहिक रूप में हम विजयी होते हैं और विभाजित होने पर हमारा पतन हो जाता है ।

सामूहिकता की नीति देश, जाति, समाज सभी के लिए हितकर है ।

स्वहित और लोकहित

स्वहित और लोकहित नैतिक चिन्तन के सदा से ही महत्त्वपूर्ण पहलू रहे हैं । विदुर[11] और चाणक्य[12] ने स्वहित को प्रमुखता दी है और कुछ अन्य नीतिकारों ने परहित अथवा लोकहित को प्रमुख माना है, कहा है—अपने लिए तो सभी जीते हैं, जो दूसरों के लिए जीए, जीवन उसी का है ।[13] यहाँ तक कहा गया है—जिस जीवन में लोकहित न हो उसकी तो मृत्यु ही श्रेयस्कर है ।[14] इस प्रकार की परस्पर विरोधी और एकांगी नीति-धाराएँ नीति-साहित्य में प्राप्त होती हैं ।

लेकिन भगवान् महावीर ने स्वहित और लोकहित को परस्पर विरोधी नहीं माना । इसका कारण यह है कि भगवान् की दृष्टि विस्तृत आयाम तक पहुँची हुई थी । उन्होंने स्वहित और लोकहित का संकीर्ण अर्थ नहीं लिया । स्वहित का अर्थ स्वार्थ और लोकहित का अर्थ परार्थ स्वीकार नहीं किया । अपि तु स्वहित में परहित और परहित में स्वहित सन्निहित माना । इसलिए वे स्वहित और लोकहित का सुन्दर समन्वय जनता-जनार्दन और विद्वानों के समक्ष रख सके ।

उन्होंने अपने साधुओं को स्व-पर कल्याणकारी बनने का सन्देश दिया । इसी कारण जैन श्रमणों का यह एक विशेषण बन गया । श्रमणजन अपने हित के साथ लोकहित भी करते हैं ।

भगवान् की वाणी लोकहित के लिए है ।[15] पांचों महाव्रत स्वहित के साथ लोकहित के लिए भी हैं ।[16] अहिंसा भगवती लोकहितकारिणी है ।[17] 'णमोत्थुणं' सूत्र में तो भगवान्

---

[11] ११. विदुरनीति १६

[12] १२. चाणक्यनीति १।६; पंचतन्त्र १।३८७

[13] १३. सुभाषित, उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण पृ. २०८

[14] १४. वही, पृष्ठ २०५

[15] १५. प्रश्नव्याकरणसूत्र स्कन्ध २, अ. १, सू. २१

[16] १६. प्रश्नव्याकरणसुत्र, स्कन्ध २, अ. १, सू.

[17] १७. शक्रस्तव—आवश्यकसूत्र

को लोकहितकारी बताया ही है ।[18]

भगवान् स्वयं तो अपना हित कर ही चुके होते हैं; किन्तु अरिहन्तावस्था की सभी क्रियाएँ, उपदेश आदि लोकहित ही होती हैं ।

साधु जो निरन्तर (नवकल्पी) पैदल ही ग्रामानुग्राम विहार करते हैं, उसमें भी स्वहित के साथ लोकहित सन्निहित है ।

श्रमण साधुओं के समान ही श्रावकवर्ग और साधारण जन भी, जो भगवान् महावीर की आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं, स्वहित के साथ लोकहित को भी प्रमुखता देते हैं ।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भगवान् महावीर द्वारा निर्देशित सिद्धान्तों में लोकहित को सदैव ही उच्च स्थान प्राप्त हुआ है और उनका अनुयायीवर्ग स्वहित के साथ-साथ लोकहित का भी अविरोधी रूप से ध्यान रखता है तथा इस नीति का पालन करता है ।

भगवान् महावीर ने इन विशिष्ट नीतियों के अतिरिक्त सत्य, अहिंसा, करुणा—जीवमात्र पर दया आदि सामान्य नीतियों का भी मार्ग प्रशस्त किया तथा इन्हें पराकाष्ठा तक पहुँचाया ।

नीति के सन्दर्भ में भगवान् ने इसे श्रमण नीति और श्रावक नीति के रूप में वर्गीकृत किया ।

श्रावक चूंकि समाज में रहता है, सभी प्रकार के वर्गों के व्यक्तियों से उसका सम्बन्ध रहता है, अतः इसके लिए समन्वयनीति का विशेष प्रयोजन है । साथ ही धर्माचरण का भी महत्त्व है । उसे लौकिक विधियों का भी पालन करना आवश्यक है । इसीलिए कहा गया है—

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ।।

—सोमदेवसूरि : उपासकाध्ययन

—जैनों को सभी लौकिक विधियाँ प्रमाण हैं, शर्त यह है कि सम्यक्त्व की हानि न हो और व्रतों में दोष न लगे ।

श्रावक-व्रतरूपी सिक्के के दो पहलू होते हैं—१. धर्मपरक और २. नीतिपरक । श्रावक व्रतों के अतिचार भी इसी रूप में सन्दर्भित हैं । उनमें भी नीतिपरक तत्त्वों की विशेषता है ।

ठाणांगसूत्र में जो अनुकंपादान, संग्रहदान, अभयदान, कारुण्यदान, लज्जादान, गौरवदान, अधर्मदान, धर्मदान, करिष्यतिदान और कृतदान—यह दस प्रकार के दान[19] बताये गये हैं, वे भी प्रमुख रूप से लोकनीतिपरक ही हैं । उनकी उपयोगिता लोकनीति के सन्दर्भ में असंदिग्ध है ।

---

[18] श्रावक व्रत और उनके अतिचारों के नीतिपरक विवेचन के लिए देखें लेखक की जैन-नीतिशास्त्र पुस्तक का सैद्धान्तिक खण्ड (अप्रकाशित)

[19] दसविहे दाणे पण्णत्ते, तंजहा—
अणुकंपासंगहे चेव, भये कालुणिये इ य ।
लज्जाए गारवेण य, अहम्मे पुण सत्तमे ।
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते काहीइ य कतंति य । —ठाणांग १०।७४५

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

इसी प्रकार ठाणांगसूत्र में वर्णित दस धर्मों[२०] में से ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, कुलधर्म आदि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नीति से है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन नैतिक दृष्टि-बिन्दु स्वहित के साथ-साथ लोकहित को भी लेकर चलता है। गृहस्थ-जीवन में तो लोकनीति को स्वहित से अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है।

भगवान् के उपदेशों में निहित इसी समन्वयात्मक बिन्दु का प्रसारीकरण एवं पुष्पन-पल्लवन बाद के आचार्यों द्वारा हुआ। आचार्य हरिभद्रकृत धर्मबिन्दुप्रकरण[२१] और आचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र[२२] में मार्गानुसारी के जो ३५ बोल[२३] दिये गये हैं वे भी सद्गृहस्थ के नैतिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

प्रवचनसारोद्धार में श्रावक के २१ गुणों[२४] में भी लगभग सभी गुण नीति से ही सम्बन्धित हैं।

इस प्रकार भगवान् महावीर द्वारा निर्धारित नीति-सिद्धान्तों का लगातार विकास होता रहा और अब भी हो रहा है। यद्यपि नीति के सिद्धान्त वही हैं, किन्तु उनमें निरन्तर युगानुकूल परिमार्जन और परिष्कार होता रहा है, यह धारा वर्तमान युग तक चली आई है।

महावीर-युग की नैतिक समस्याएँ और भगवान् द्वारा समाधान

भगवान् महावीर का युग संघर्षों का युग था। उस समय आचार, दर्शन, नैतिकता, सामाजिक ऊँच-नीच की धारणाएँ, दास-दासी-प्रथा आदि अनेक प्रकार की समस्याएँ थीं। सभी वर्ग उनमें भी समाज में उच्चताप्राप्त ब्राह्मणवर्ग अपने ही स्वार्थों में लीन था, मानवता पद-दलित हो रही थी, क्रूरता का बोलबाला था, नैतिकता को लोग भूल से गये थे। ऐसे कठिन समय में भगवान् महावीर ने उन समस्याओं को समझा, उन पर गहन चिन्तन किया और उचित समाधान दिया।

१. नैतिकता के दो दृष्टिकोणों का उचित समाधान

उस समय ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित हिंसक यज्ञ एक ओर चल रहे थे तो दूसरी ओर देह दण्ड रूप पंचाग्नि तप की परम्परा प्रचलित थी। यद्यपि भ. पार्श्वनाथ ने तापस-परम्परा के पाखंड को मिटाने का प्रयास किया किन्तु वे निःशेष नहीं हुए थे।

---

[२०] दसविहे धम्मे पण्णत्ते तंजहा—
(१) गामधम्मे, (२) नगरधम्मे, (३) रट्ठधम्मे, (४) पासंडधम्मे, (५) कुलधम्मे, (६) गणधम्मे, (७) संघधम्मे, (८) सुयधम्मे, (९) चरित्तधम्मे, (१०) अत्थिकायधम्मे।
—ठाणांग, १०।७६०

[२१] आचार्य हरिभद्र—धर्मबिन्दुप्रकरण १

[२२] आचार्य हेमचन्द्र—योगशास्त्र १।४७-५६

[२३] मार्गानुसारी के ३५ बोलों और श्रावक के २१ गुणों का नीतिपरक विवेचन अन्यत्र किया गया है।

[२४] प्रवचनसारोद्धारद्वार २३९, गाथा १३५६-१३५८

भगवान् महावीर ने यज्ञ, याग, श्राद्ध, आदि तथा पंचाग्नि तप को अनैतिक (पापमय) कहा और बताया कि नैतिकता का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से है, इसमें पापकारी प्रवृत्तियाँ नहीं होनी चाहिए। उन्होंने विचार और आचार के समन्वय की नीति स्थापित की। उन्होंने प्रतिपादित किया कि शुभ विचारों के अनुसार ही आचरण भी शुभ होना चाहिए। तथा शुभ आचरण के अनुरूप विचार भी शुभ हों। यों उन्होंने नैतिकता के बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दोनों पक्षों का समन्वय करके मानव के सम्पूर्ण (अन्तर्बाह्य) जीवन में नैतिकता की प्रतिष्ठा की।

२. सामाजिक असमानता की समस्या

उस युग में जाति एवं वर्ण के आधार पर मानव-मानव में भेद था ही, एक को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझा जाता था, किन्तु इस ऊँच-नीच की भावना में धन भी एक प्रमुख घटक बन गया था। धनी और सत्ताधीशों को सम्मानित स्थान प्राप्त था, जबकि निर्धन सत्ताविहीन लोग निम्न कोटि के समझे जाते थे। शूद्रों-दासों की स्थिति तो बहुत ही दयनीय थी। वे पशु से भी गये बीते माने जाते थे। यह स्थिति सामाजिक दृष्टि से तो विषम थी ही, साथ ही इसमें नैतिकता को भी निम्नतम स्तर तक पहुँचा दिया गया था। भगवान् महावीर ने इस अनैतिकता को तोड़ा। उन्होंने अपने श्रमणसंघ में चारों वर्णों और सभी जाति के मानवों को स्थान दिया तथा उनके लिए मुक्ति का द्वार खोल दिया।

चाण्डालकुलोत्पन्न साधक हरिकेशी[२५] की यज्ञकर्त्ता ब्राह्मण रुद्रदेव पर उच्चता दिखाकर नैतिकता को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इसी प्रकार चन्दनबाला[२६] के प्रकरण में दास-प्रथा को नैतिक दृष्टि से मानवता के लिए अभिशाप सिद्ध किया। मगध सम्राट् श्रेणिक[२७] का निर्धन पूणिया के घर जाना और सामायिक के फल की याचना करना, नैतिकता की प्रतिष्ठा के रूप में जाना जायेगा, यहाँ धन और सत्ता का कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व है नैतिकता का, पूणिया के नीतिपूर्ण जीवन का।

भगवान् महावीर ने जन्म से वर्णव्यवस्था के सिद्धान्त को नकार कर कर्म से वर्णव्यवस्था[२८] का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और इस प्रतिपादन में नैतिकता को प्रमुख आधार बनाया।

उस युग में ब्राह्मणों द्वारा प्रचारित यज्ञ के बाह्य स्वरूप को निर्धारित करने वाले लक्षण को भ्रमपूर्ण बताकर नया आध्यात्मिक[२९] लक्षण दिया, जिसमें नैतिकता का तत्त्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

मानव की जकड़न से मुक्ति

उस युग का मानव दो प्रकार के निविड बन्धनों से जकड़ा हुआ था—(१) ईश्वरकर्तृत्ववाद और (२) सामाजिक धार्मिक तथा नैतिक रूढ़ियों से। इन दोनों बन्धनों से ग्रस्त

---

[२५] उत्तराध्ययन सूत्र, १२ वाँ हरिकेशीय अध्ययन

[२६] महावीरचरियं, गुणचन्द्र

[२७] श्रेणिकचरित्र

[२८] उत्तराध्ययनसूत्र अ. २५, गा. २७, २१ आदि।

[२९] उत्तराध्ययनसूत्र १२/४४

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

मानव छटपटा रहा था। इन बन्धनों के दुष्परिणामस्वरूप नैतिकता का ह्रास हो गया और अनैतिकता के प्रसार को खुलकर फैलने का अवसर मिल गया।

ईश्वरवाद तथा ईश्वरकर्तृत्ववाद के सिद्धान्त का लाभ उठाकर ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अपनी विशिष्ट स्थिति बना ली। साथ ही ईश्वर को मानवीय भाग्य का नियंत्रक और नियामक माना जाने लगा। इससे मानव की स्वतन्त्रता का ह्रास हुआ, नैतिकता में भी गिरावट आई।

भगवान् ने मानव को स्वयं अपने भाग्य का निर्माता बताकर मानवता की प्रतिष्ठा तो की ही, साथ उसमें नैतिक साहस भी जगाया।

इसी प्रकार इस युग में स्नान (बाह्य अथवा जल स्नान) एक नैतिक कर्त्तव्य माना जाता था, इसे धार्मिकता का रूप भी प्रदान कर दिया गया था, जब कि बाह्य स्नान से शुद्धि मानना सिर्फ रूढ़िवादिता है।

भगवान् ने स्नान का नया आध्यात्मिक लक्षण[३०] देकर इस रूढ़िवादिता को तोड़ा।

ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देना भी उस युग में गृहस्थ का नैतिक-धार्मिक कर्त्तव्य बना दिया गया था। इस विषय में भी भगवान् ने नई नैतिक दृष्टि देकर दान से संयम को श्रेष्ठ बताया। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा कि प्रतिमास सहस्रों गायों का दान देने से संयम श्रेष्ठ है।[३१] वस्तुतः भगवान् महावीर दान के विरोधी नहीं हैं, अपितु उन्होंने तो मोक्ष के चार साधनों में दान, शील, तप और भाव में दान को प्रथम स्थान दिया, किन्तु उस युग में ब्राह्मणों को दान देना एक रूढ़ि बन गई थी, इस रूढ़िग्रस्तता को ही भगवान् ने तोड़कर मानव की स्वतन्त्रता तथा नैतिकता की स्थापना की थी।

भगवान् के कथन का अनुमोदन धम्मपद[३२] में भी मिलता है और गीता के शांकर भाष्य[३३] में भी।

उपसंहार

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर ने नीति के नये आधारभूत सिद्धान्त निर्धारित किये। संवर आदि ऐसे घटक हैं जिन पर अन्य विद्वानों की दृष्टि न जा सकी।

उन्होंने अनाग्रह, अनेकांत, यतना, अप्रमाद, समता, विनय आदि नीति के विशिष्ट तत्त्व मानव को दिये। सामूहिकता को संगठन का आधार बताया और श्रमण एवं श्रावक को उसके पालन का संदेश दिया। सामान्यतया, सभी अन्य धर्मों ने धर्म तत्त्व को जानने के लिए मानव को बुद्धि-प्रयोग की आज्ञा नहीं दी, यही कहा कि जो धर्म-प्रवर्त्तकों ने कहा है, हमारे शास्त्रों में लिखा है, उसी पर विश्वास कर लो। किन्तु भगवान् महावीर मानव को अंधविश्वासी नहीं बनाना चाहते थे, अतः 'पन्ना समिक्खए धम्मं' कहकर मानव को धर्मतत्त्व में जिज्ञासा

---

[३०] उत्तराध्ययनसूत्र १२।४६

[३१] उत्तराध्ययनसूत्र ९।४०

[३२] धम्मपद १०६

[३३] देखिए, गीता ४/२६-२७ पर शांकर भाष्य

और बुद्धि-प्रयोग को अवकाश देकर उसके नैतिक धरातल को ऊँचा उठाया। आत्महित के साथ-साथ लोकहित का भी उपदेश दिया।

तत्कालीन एकांगी विचारधाराओं का सम्यक् समन्वय किया, सामाजिक धार्मिक दृष्टि से रसातल में जाते हुए नैतिक मूल्यों की ठोस आधार पर प्रतिष्ठा की।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने नीति के ऐसे दिशानिर्देशक सूत्र दिये जिनका स्थायी प्रभाव हुआ और समस्त नैतिक चिन्तन पर उनका प्रभाव आज भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

□□

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है